आगम अभ्यास का फल टोडरमलजी साहब ने पत्र नं. २६८ में मिथ्यात्व का नाश होना बताया है—"अब मिथ्यादृष्टि जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर उनका उपकार करना यही उत्तम उपकार है।" तथा पत्र नं. १६३ में कहा है कि "इस मिथ्यात्व बैरी का अंश भी बुरा है, इसलिए सूक्ष्म मिथ्यात्व भी त्यागने योग्य है।"

अब देखना यह है कि शास्त्रों का अध्ययन करने की आचार्यों ने क्या पद्धति बताई है अर्थात् किस पद्धति से शास्त्र अध्ययन करने से इष्ट ध्येय की प्राप्ति हो सकती है। इसके लिए प्रथम यह समझना आवश्यक है कि शास्त्रों के तथा उनके भिन्न-भिन्न विषयों के निरूपण का तात्पर्य क्या है?

शास्त्र तात्पर्य वीतरागता

इस विषय में श्रीमत् अमृतचंद्राचार्य ने पंचास्तिकाय ग्रन्थ की गाथा नं. १७२ की टीका में लिखा है कि—

"अलं विस्तरेण। स्वस्ति साक्षान्मोक्षमार्गसारत्वेन शास्त्र-तात्पर्यभूताय वीतरागत्वायेति।"

अर्थ—विस्तार से पूरा पड़ो। जयवंत रहो वीतरागता कि जो साक्षात् मोक्षमार्ग का सार होने से शास्त्र का तात्पर्य है। मोक्ष-मार्ग प्रकाशक पत्र नं. ३०३ में भी कहा है कि—"जिनमत में तो एक रागादि मिटाने का प्रयोजन है, इसलिए कहीं बहुत रागादि छुड़ाकर थोड़े रागादि कराने के प्रयोजन का पोषण किया है, कहीं सर्व रागादि मिटाने के प्रयोजन का पोषण किया है परन्तु रागादि

बढ़ाने का प्रयोजन कहीं नहीं है, इसलिए जिनमत का सर्व कथन निर्दोष है।"

उपर्युक्त प्रकार से जिनागम के अध्ययन का तात्पर्य वीतरागता है यह जानकर अपने अध्ययन के फलरूप अपने भावों में वीतरागता का पोषण होता हो तो समझना चाहिये कि अध्ययन ठीक प्रकार से हो रहा है और उस अध्ययन से अगर किसी भी प्रकार से रागभावों का पोषण होता हो तो समझना कि मेरे अध्ययन की प्रणाली में कहीं भूल हो रही है।

अध्ययन का लाभ

उस अध्ययन का स्वयं को किस प्रकार लाभ हो इस संबंध में मो. मा. प्र. पत्र नं. २९८ में कहा है कि–"जैन शास्त्रों में अनेक उपदेश हैं, उन्हें जाने परन्तु ग्रहण उसी का करे जिससे अपना विकार दूर हो जावे, अपने को जो विकार हो उसका निषेध करने वाले उपदेश को ग्रहण करे।" पत्र नं. ३०२ में भी कहा है— "विवेकी अपनी बुद्धि अनुसार जिसमें समझे सो थोड़े या बहुत उपदेश को ग्रहण करे परन्तु मुझे यह कार्यकारी है, यह कार्यकारी नहीं है—इतना तो ज्ञान अवश्य होना चाहिये, सो कार्य तो इतना है कि—यथार्थ श्रद्धान ज्ञान करके रागादि घटाना। ....इस प्रकार स्याद्वाददृष्टि सहित जैन शास्त्रों का अभ्यास करने से अपना कल्याण होता है।"

स्व-कल्याण करना ही प्रयोजन

पत्र नं. ३०१ के अन्त में भी कहा है कि "उपदेश के अर्थ को जानकर वहां इतना विचार करना कि–यह उपदेश किस प्रकार है,

किस प्रयोजन सहित है, किस जीव को कार्यकारी है ? इत्यादि विचार करके उसका यथार्थ अर्थ ग्रहण करे, पश्चात् अपनी दशा देखे, जो उपदेश जिस प्रकार अपने को कार्यकारी हो, उसे उसी प्रकार आप अंगीकार करे और जो उपदेश जानने योग्य ही हो, तो उसे यथार्थ जान ले।"

उपर्युक्त प्रकार से जिनागम के अध्ययन का प्रयोजन मात्र अपना हित अर्थात् मिथ्यात्व का नाश करना है।

मो. मा. प्र. पत्र नं. २६६ में कहा भी है कि–"इन प्रकारों को पहिचानकर अपने में ऐसा दोष हो तो उसे दूर करके सम्यक् श्रद्धानी होना, औरों के ही ऐसे दोष देखकर कषायी नहीं होना क्योंकि अपना भला बुरा तो अपने परिणामों से है। औरों को तो रुचिवान् देखे तो कुछ उपदेश देकर उनका भी भला करे। इसलिए अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना योग्य है, सर्वप्रकार के मिथ्यात्वभाव छोड़कर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है क्योंकि संसार का मूल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के समान अन्य पाप नहीं है।"

शास्त्राभ्यासी की अन्तर्भावना

आगे टोडरमलजी साहब पत्र नं. २५७ में बताते हैं कि शास्त्र के अभ्यासी की अन्तर्भावना कैसी होनी चाहिये– "उपदेश से सावधान होकर ऐसा विचार किया कि–अहो ! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं भ्रम से भूल कर प्राप्त पर्याय ही में तन्मय हुआ परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं, इसलिये मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिये क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है।"

अभ्यास करने की प्रणाली

आगे पत्र नं. २५८ में तत्त्वनिर्णय करने के अभ्यासी को किस प्रकार अभ्यास करना चाहिये, वह पद्धति वताई है कि–"सो एकान्त में अपने उपयोग में विचार करे कि–जैसा उपदेश दिया वैसे ही है या अन्यथा है ? वहां अनुमानादि प्रमाण से वरावर समझे अथवा उपदेश तो ऐसा है और ऐसा न माने तो ऐसा होगा, सो इनमें प्रवल युक्ति कौन है और निर्वल युक्ति कौन है ? जो प्रवल भासित हो उसे सत्य जाने तथा यदि उपदेश से अन्यथा सत्य भासित हो अथवा उसमें सन्देह रहे, निर्धार न हो, तो जो विशेषज्ञ हों उनसे पूछे और वे उत्तर दें उनका विचार करे। इसी प्रकार जव तक निर्धार न हो तव तक प्रश्न-उत्तर करे अथवा समान बुद्धि के धारक हों उनसे अपना विचार जैसा हुआ हो वैसा कहे और प्रश्न-उत्तर द्वारा परस्पर चर्चा करे तथा जो प्रश्नोत्तर में निरूपण हुआ हो उसका एकान्त में विचार करे। इसी प्रकार **जब तक अपने अंतरंग में जैसा उपदेश दिया था वैसा ही निर्णय होकर भाव भासित न हो तब तक इसी प्रकार उद्यम किया करे।"**

पत्र नं. २५९ में कहा है कि–"इसलिये भाव भासित होने के अर्थ हेय-उपादेय तत्वों की परीक्षा अवश्य करनी चाहिये।" पत्र नं. २६० में भी कहा है कि "परन्तु सम्यक्त्व का अधिकारी तत्व-विचार होने पर ही होता है।" इस प्रकार जिनागम के अभ्यासी की पूर्वभूमिका वतलाई गई है।

चारों अनुयोगों की पद्धति

अब यह समझना है कि जैन शास्त्रों का अभ्यास करने की पंडितजी साहब क्या पद्धति बतलाते हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक अधिकार नं. ८ में पंडितजी साहब ने इस विषय को बहुत स्पष्टीकरण पूर्वक समझाया है कि चारों अनुयोग के शास्त्रों में कथन किस पद्धति से, किस प्रयोजन को लेकर, किस विधि से किया गया है तथा उनमें दोष कल्पना की जाती है, उसका निराकरण क्या है ? अतः पूरा अधिकार ही मनन करने योग्य है। उसके कुछ अंश यहां दिये जाते हैं।

प्रथमानुयोग के कथन की पद्धति

प्रथमानुयोग के संबंध में पत्र नं. २६८ में "प्रथमानुयोग में तो संसार की विचित्रता, पुण्य पाप का फल, महंत पुरुषों की प्रवृत्ति इत्यादि निरूपण से जीवों को धर्म में लगाया है" पत्र नं. २६९ में "परन्तु प्रयोजन जहां तहां पाप को छुड़ाकर धर्म में लगाने का प्रगट करते हैं" "प्रथम अर्थात् अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टि, उनके अर्थ जो अनुयोग सो प्रथमानुयोग है" पत्र नं. २७३ में "उपदेश में कहीं व्यवहार वर्णन है, कहीं निश्चय वर्णन है। यहां उपचाररूप व्यवहार वर्णन किया है, इस प्रकार इसे प्रमाण करते हैं।"

आगे कहा है–"प्रथमानुयोग में उपचाररूप किसी धर्म का अंग होने पर सम्पूर्ण धर्म हुआ कह देते हैं सम्यक्त्व तो तत्वश्रद्धान होने पर ही होता है, परन्तु निश्चयसम्यक्त्व का तो व्यवहार-

सम्यक्त्व में उपचार किया और व्यवहारसम्यक्त्व के किसी एक अंग में सम्पूर्ण व्यवहारसम्यक्त्व का उपचार किया, इस प्रकार उपचार द्वारा धर्म हुआ कहते हैं।"

पत्र नं. २८६ में "प्रथमानुयोग में तो अलंकार शास्त्र की तथा काव्यादि शास्त्रों की पद्धति मुख्य है।" पत्र नं. २८६ में "सरागी जीवों का मन केवल वैराग्य कथन में नहीं लगता, इसलिये जिस प्रकार बालक को बताशे के आश्रय से औषधि देते हैं, उसी प्रकार सरागी को भोगादि कथन के आश्रय से धर्म में रुचि कराते हैं।" इस पद्धति को समझ कर प्रथमानुयोग का अभ्यास करना।

करणानुयोग के कथन की पद्धति

करणानुयोग के सम्बन्ध में पत्र नं. २६६ में "करणानुयोग में जीवों के व कर्मों के विशेष तथा त्रिलोकादि की रचना निरूपित करके जीवों को धर्म में लगाया है।" "पाप से विमुख होकर धर्म में लगते हैं।" पत्र नं. २७० में 'करण' अर्थात् गणित कार्य के कारणरूप सूत्र, उनका जिसमें 'अनुयोग' अधिकार हो, वह करणानुयोग है।" पत्र नं. २७५ में "जैसा केवलज्ञान द्वारा जाना वैसा करणानुयोग में व्याख्यान है।" तथा आगे कहा है "एक वस्तु में भिन्न-भिन्न गुणों का व पर्यायों का भेद करके निरूपण करते हैं तथा जीव पुद्गलादि यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं तथापि सम्बन्धादि के द्वारा अनेक द्रव्य से उत्पन्न गति जाति आदि भेदों को एक जीव के निरूपित करते हैं, इत्यादि व्याख्यान व्यवहारनय की प्रधानता सहित जानना।"

आगे कहा है-"करणानुयोग में जो कथन हैं, वे कितने ही तो छद्मस्थ के प्रत्यक्ष अनुमानादिगोचर होते हैं तथा जो न हों उन्हें आज्ञा प्रमाण द्वारा मानना।" पत्र नं. २७७ में "करणानुयोग में तो यथार्थ पदार्थ बतलाने का मुख्य प्रयोजन है, आचरण कराने की मुख्यता नहीं है।........जैसे आप कर्मों के उपशमादि करना चाहें तो कैसे होंगे? आप तो तत्वादिक का निश्चय करने का उद्यम करे, उससे स्वयमेव ही उपशमादि सम्यक्त्व होते हैं" पत्र नं. २९० में बताया है कि "जीव कर्मादिक के नाना प्रकार से भेद जाने, उसमें रागादिक करने का प्रयोजन नहीं है, इसलिये रागादिक बढ़ते नहीं हैं, वीतराग होने का प्रयोजन जहां तहां प्रगट होता है।" इस प्रकार इस पद्धति को जानकर तथा इस अनुयोग में व्यवहारनय की प्रधानता से कथन है, ऐसा समझकर अभ्यास करना चाहिये।

यहां इतना विशेष समझना चाहिये कि इनमें, कषाय की मंदतारूप शुभभाव को धर्म की संज्ञा दी है, यथार्थ में तो निःकषाय भाव अर्थात् संवर निर्जरारूप भाव ही धर्म है, वह अपेक्षा यहां नहीं ली है।

चरणानुयोग के कथन की पद्धति

चरणानुयोग के सम्बन्ध में पत्र नं. २७० में कहा है "जो जीव हित अहित को नहीं जानते, हिंसादिक पापकार्यों में तत्पर रहते हैं, उन्हें जिस प्रकार पाप कार्यों को छोड़कर धर्म कार्यों में लगे, उस प्रकार उपदेश दिया है।" आगे कहा है कि-"जो जीव तत्वज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उन्हें यह सर्व आचरण

अपने वीतरागभाव के अनुसार भासित होते हैं। एकदेश व सर्वदेश वीतरागता होने पर ऐसी श्रावकदशा-मुनिदशा होती है क्योंकि इनके निमित्त नैमित्तिकता पाई जाती है।........वहां जितने अंश में वीतरागता होती है उसे कार्यकारी जानते हैं, जितने अंश में राग रहता है उसे हेय जानते हैं। सम्पूर्ण वीतरागता को परम धर्म मानते हैं।"

पत्र नं. २७७ में बताया है कि "चरणानुयोग में जिस प्रकार जीवों के अपनी बुद्धिगोचर धर्म का आचरण हो वैसा उपदेश दिया है। वहां धर्म तो निश्चयरूप मोक्षमार्ग है वही है, उसके साधनादिक उपचार से धर्म है, इसलिए व्यवहारनय की प्रधानता से नाना प्रकार उपचार,धर्म के भेदादिकों का इसमें निरूपण किया जाता है।" पत्र नं. २७८ में लिखा है "वह उपदेश दो प्रकार से दिया जाता है–एक तो व्यवहार ही का उपदेश देते हैं, एक निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश देते हैं।"

आगे कहा है "जिन जीवों को निश्चय व्यवहार का ज्ञान है व उपदेश देने पर उनका ज्ञान होता दिखाई देता है–ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव व सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि जीव, उनको निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश देते हैं" "व्यवहार उपदेश में तो बाह्य क्रियाओं की ही प्रधानता है।" "निश्चय सहित व्यवहार के उपदेश में परिणामों की ही प्रधानता है, ...वहां परिणाम के अनुसार बाह्य क्रिया भी सुधर जाती है।" पत्र नं. २७९ में "जहां निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश हो, वहां सम्यग्दर्शन के अर्थ, यथार्थ तत्वों का श्रद्धान कराते हैं।उनका जो निश्चय स्वरूप सो भूतार्थ है, व्यवहार

स्वरूप है सो उपचार है।" पत्र नं. २८२ में "चरणानुयोग में छद्मस्थ की बुद्धिगोचर स्थूलपने की अपेक्षा से लोक प्रवृत्ति की मुख्यता सहित उपदेश देते हैं परन्तु केवलज्ञान गोचर सूक्ष्मपने की अपेक्षा नहीं देते।" इस प्रकार चरणानुयोग के कथन का अभिप्राय जानकर अभ्यास करना योग्य है।

द्रव्यानुयोग के कथन की पद्धति

द्रव्यानुयोग के सम्बन्ध में पत्र नं. २७१ में "द्रव्यानुयोग में द्रव्यों का व तत्वों का निरूपण करके जीवों को धर्म में लगाते हैं। जो जीव, जीवादिक द्रव्यों को व तत्वों को नहीं पहचानते, आपको परको भिन्न नहीं जानते, उन्हें हेतु-दृष्टान्त-युक्ति द्वारा व प्रमाण नयादि द्वारा उनका स्वरूप इस प्रकार दिखाया है जिससे उनको प्रतीति हो जाये। उसके अभ्यास से अनादि अज्ञानता दूर होती है।" इसी बात को पंडितजी ने पत्र नं. २८४ में भी दोहराया है तथा कहा है "क्योंकि इसमें यथार्थ श्रद्धान कराने का प्रयोजन है।" आगे कहा है कि "द्रव्यानुयोग में निश्चय अध्यात्म उपदेश की प्रधानता हो, वहां व्यवहार धर्म का भी निषेध करते हैं।"

पत्र नं. २८५ में स्पष्टीकरण किया है "इसी प्रकार अन्य व्यवहार का निषेध वहां किया हो उसे जानकर प्रमादी नहीं होना, ऐसा जानना कि—जो केवल व्यवहार साधन में ही मग्न हैं, उनको निश्चय रुचि कराने के अर्थ व्यवहार को हीन बतलाया है।" इस ही पत्र में कहा है कि "द्रव्यानुयोग में भी चरणानुयोगवत् ग्रहण-त्याग कराने का प्रयोजन है, इसलिये छद्मस्थ के बुद्धिगोचर

परिणामों की अपेक्षा ही वहां कथन करते हैं। इतना विशेष है कि चरणानुयोग में तो वाह्य क्रिया की मुख्यता से वर्णन करते हैं, द्रव्यानुयोग में आत्मपरिणामों की मुख्यता से निरूपण करते हैं।"

पत्र नं. २८७ में "द्रव्यानुयोग में न्याय शास्त्रों की पद्धति मुख्य है क्योंकि वहां निर्णय करने का प्रयोजन है।" पत्र नं. २८६ में "जिस प्रकार यथाख्यात चारित्र होने पर तो दोनों अपेक्षा शुद्धोपयोग है परन्तु निचली दशा में द्रव्यानुयोग अपेक्षा तो कदाचित् शुद्धोपयोग होता है परन्तु करणानुयोग अपेक्षा सदा काल कपाय अंश के सद्भाव से शुद्धोपयोग नहीं है। इसी प्रकार अन्य कथन जान लेना।" पण्डितजी साहब पत्र नं. २९२ पर द्रव्यानुयोग में दोप-कल्पना के निराकरण प्रकरण में "कोई जीव द्रव्यानुयोग के कथन को सुनकर स्वच्छन्द हो जावेंगे" ऐसी कल्पना के उत्तर में कहते हैं कि "जैसे गधा मिश्री खाकर मर जाय तो मनुष्य तो मिश्री खाना नहीं छोड़ेंगे, उसी प्रकार विपरीतबुद्धि अध्यात्म ग्रन्थ सुन कर स्वच्छन्द हो जावे तो विवेकी तो अध्यात्म ग्रन्थों का अभ्यास नहीं छोड़ेंगे....इसलिये जो भलीभांति उनको सुने वह तो स्वच्छन्द होता नहीं परन्तु एक वात सुनकर अपने अभिप्राय से कोई स्वच्छन्द हो तो ग्रन्थ का तो दोप है नहीं, उस जीव ही का दोप है....निषेध करें तो मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो वही है, उसका निषेध करने से तो मोक्षमार्ग का निषेध होता है।"

पत्र नं. २९३ में भी वताया है कि "अध्यात्म ग्रन्थों से कोई स्वच्छन्द हो, सो वह तो पहिले भी मिथ्यादृष्टि था, अव भी मिथ्या-

दृष्टि ही रहा। इतना ही नुकसान होगा कि सुगति न होकर कुगति होगी परन्तु अध्यात्म उपदेश न होने पर वहुत जीवों के मोक्षमार्ग की प्राप्ति का अभाव होता है और इसमें वहुत जीवों का वहुत वुरा होता है इसलिये अध्यात्म उपदेश का निषेध नहीं करना।" इसी की पुष्टि आगे करते हैं कि "**जिनमत में तो यह परिपाटी है कि पहिले सम्यक्त्व होता है फिर व्रत होते हैं, वह सम्यक्त्व स्वपरका श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग के अभ्यास करने पर होता है इसलिये प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो** पश्चात् चरणानुयोग के अनुसार व्रतादि धारण करके व्रती हो। इस प्रकार मुख्य रूप से तो निचली दशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है।"

आगे कहते हैं कि "अभ्यास करने से स्वरूप भली-भांति भासित होता है, अपनी वुद्धि अनुसार थोड़ा-वहुत भासित हो परन्तु सर्वथा निरुद्यमी होने का पोषण करे, वह तो जिनमार्ग का द्वेषी होना है।" इसी पत्र के अंत में उपसंहार करते हैं "इसलिये आत्मानुभवनादिक के अर्थ द्रव्यानुयोग का अवश्य अभ्यास करना।" इस प्रकार पद्धति को लक्ष्य में लेकर द्रव्यानुयोग का अभ्यास करना चाहिये।

व्याकरणादि शास्त्रों का अभ्यास

व्याकरण न्यायादि ग्रन्थों के अभ्यास के विषय में पण्डितजी साहव पत्र नं. २८८ में कहते हैं कि "यहां इतना है कि ये भी जैन शास्त्र हैं ऐसा जानकर इनके अभ्यास में वहुत नहीं लगना। यदि

वहुत वुद्धि से इनका सहज जानना हो और इनको जानने से अपने रागादिक विकार वढ़ते न जाने तो इनका भी जानना होओ, अनुयोग शास्त्रवत् ये शास्त्र वहुत कार्यकारी नहीं हैं इसलिये इनके अभ्यास का विशेप उद्यम करना योग्य नहीं है।

इस प्रकार उपर्युक्त पद्धति, विधान, प्रयोजन आदि को समझ कर चारों अनुयोगों का अभ्यास करने से यथार्थ तत्ववोध प्राप्त होगा जिससे मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यक्त्व प्राप्त होता है क्योंकि पत्र नं. २३७ में कहते हैं कि "आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान भी कार्यकारी नहीं है।" टोडरमलजी साहव ने चारों अनुयोगों के विधान को समझ कर क्या करना इस विपय में पत्र नं. २८६ पर लिखा है कि "सो जहां जैसा सम्भव हो वहां वैसा समझ लेना।" इस प्रकार चारों अनुयोगों में कथन किस प्रकार का किस वात की मुख्यता को लेकर होता है यह शास्त्र अध्ययन के पहिले मोक्षार्थी को समझना आवश्यक है।

निश्चयनय एवं व्यवहारनय को समझने की प्रणाली

अव यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उपर्युक्त कथन में निश्चय व्यवहार की वात आई है अतः उसका स्वरूप समझना भी तत्व-निर्णय करने के लिये अति आवश्यक है। इस विपय में मोक्षमार्ग-प्रकाशक पत्र नं. १९३ में वताया है कि "वहां जिनागम में निश्चय व्यवहाररूप वर्णन है। उनमें यथार्थ का नाम निश्चय है, उपचार का नाम व्यवहार है" तथा पत्र नं. २५१ में कहा है कि "व्यवहार

नय स्वद्रव्य-परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है। सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, इसलिये उसका त्याग करना तथा निश्चय नय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, इसलिये उसका श्रद्धान करना।

"यहां प्रश्न है कि यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे ?"

समाधान-जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है उसे तो "सत्यार्थ ऐसे ही है"—ऐसा जानना तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे "ऐसे है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है" ऐसा जानना। इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर ऐसे भी है, ऐसे भी है—इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।"

निश्चय को अंगीकार कराने के लिए व्यवहार से उपदेश होता है

पत्र नं० २५२ में कहा है कि "इस निश्चय को अंगीकार कराने के लिए व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं परन्तु व्यवहारनय है सो अंगीकार करने योग्य नहीं है।" (समयसार गाथा नं० ८ की टीका में से) इसी पत्र में आगे कहते हैं "तथा निश्चय से वीतराग भाव मोक्ष मार्ग है" उसे जो नहीं पहिचानते उनको ऐसे ही कहते रहें तो

वे समझ नहीं पाये। तब उनको व्यवहारनय से, तत्वश्रद्धान ज्ञानपूर्वक परद्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा व्रत, शील, संयमादिरूप वीतराग भाव के विशेष बतलाये तब उन्हें वीतराग भाव की पहिचान हुई। इसी प्रकार व्यवहार बिना निश्चय के उपदेश का न होना जानना" व्यवहार कथन अंगीकार करने योग्य नहीं है आगे इस ही बात को पुष्ट करते हैं "तथा व्यवहारनय से नर-नारकादि पर्याय ही को जीव कहा, सो पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना।" "जीव के संयोग से शरीरादिको भी उपचार से जीव कहा, तो कथन मात्र ही है......ऐसा ही श्रद्धान करना।" "तथा अभेद आत्मा में ज्ञान दर्शनादि भेद किए सो उन्हें भेद रूप ही नहीं मान लेना" "संज्ञा संख्यादि से भेद कहे सो कथनमात्र ही हैं, परमार्थ से भिन्न-भिन्न हैं नहीं—ऐसा ही श्रद्धान करना।"

"पर द्रव्य का निमित्त मिटने की अपेक्षा से व्रतशील संयमादिक को मोक्षमार्ग कहा, सो इन्हीं को मोक्षमार्ग नहीं मान लेना .... इसलिये आत्मा अपने भाव रागादिक हैं उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है, इसलिये निश्चय से वीतराग भाव ही मोक्षमार्ग है।.... व्रतादिक को मोक्षमार्ग कहा सो कथन मात्र ही है. परमार्थ से बाह्य क्रिया मोक्षमार्ग नहीं है—ऐसा ही श्रद्धान करना।" पत्र नं० २५३ में कहा है कि "इसी प्रकार अन्यत्र भी व्यवहारनय को अंगीकार नहीं करना, ऐसा जान लेना।"

व्यवहार उपदेश अपने लिए कैसे कार्यकारी है

आगे प्रश्न किया है कि "व्यवहारनय पर को उपदेश ही में कार्यकारी है या अपना भी प्रयोजन साधता है?"

समाधान–आप भी जब तक निश्चयनय से प्ररूपित वस्तु को न पहिचाने तब तक व्यवहार मार्ग से वस्तु का निश्चय करे इसलिये निचली दशा में अपने को भी कार्यकारी है परन्तु व्यवहार को उपचार मात्र मान कर उसके द्वारा वस्तु को ठीक प्रकार समझे तब तो कार्यकारी हो परन्तु यदि निश्चयवत् व्यवहार को भी सत्यभूत मानकर 'वस्तु इस प्रकार ही है' ऐसा श्रद्धान करे तो उलटा अकार्यकारी हो जावे। यही पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की गाथा नं० ६-७ में कहा है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार से निश्चय, व्यवहार के स्वरूप को भले प्रकार यथावत् समझकर, चारों अनुयोग के शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये।

ग्रन्थान्तरों में आगम अभ्यास की पद्धति

श्रीमत् जयसेनाचार्य ने समयसार गाथा नं० १२० की टीका में यही पद्धति अपनाने का आदेश किया है, यथा—

'इति शब्दनयमतागमभावार्थाः व्याख्यानकाले यथासम्भव सर्वत्र ज्ञातव्याः' अर्थ—शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ तथा भावार्थ–व्याख्यान के अवसर पर सर्वत्र जान लेना। उपर्युक्त पद्धति को ही पंचास्तिकायकी गाथा नं० २७ की टीका में उक्त आचार्य महाराज ने तथा ब्रह्मदेव सूरि ने परमात्मप्रकाश श्लोक नं० १ की टीका में तथा वृहद् द्रव्यसंग्रह की गाथा नं० २ की टीका में भी बताया है।

(१) शब्दार्थ—शब्द का अर्थ (२) नयार्थ- यह कथन किस नय की मुख्यता से किया है यह समझना (३) मतार्थ-यह कथन किस प्रकार की मान्यता को सम्यक् कराने की मुख्यता से किया गया है यह समझना (४) आगमार्थ-आगम में प्रसिद्ध अर्थ क्या है उससे मिलान करना (५) भावार्थ-इष्टार्थ तो वीतरागता है अतः यह कथन 'वीतरागता की साधना में हेय है या उपादेय है, यह समझना। इस प्रकार पांचों प्रकारों का उपयोग करके शास्त्रों का अध्ययन करे तो यथार्थ भाव भासन होकर आत्म-कल्याण का मार्ग प्राप्त हो। उपर्युक्त पांचों प्रकारों में भी नयार्थ सबसे ज्यादा समझने योग्य है।

शास्त्रों का अर्थ समझने की मास्टर कुञ्जी

संक्षेप में कहो तो-"एक द्रव्य का कार्य उस ही द्रव्य में अथवा उस द्रव्य के कार्य (पर्याय) को उस ही द्रव्य का बतलाया हो" वह निश्चय का कथन जानना। "एक द्रव्य का कार्य अन्य द्रव्य में अथवा उस द्रव्य के कार्य (पर्याय) को अन्य द्रव्य द्वारा करना बतलाया हो" वह व्यवहार का कथन जानना। जैसे मतिज्ञानरूप आत्मा की पर्याय को ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम द्वारा हुई कहना, यह व्यवहार कथन हुआ और उसी पर्याय को आत्मा कहना, यह निश्चय कथन है। व्यवहार के कथन-जैसी ही वस्तु को मान ले तो ऐसे श्रद्धान को आचार्यों ने मिथ्या श्रद्धा कहा है और ऐसी श्रद्धा को छोड़ने का आदेश दिया है-कारण ऐसी श्रद्धा करने से उस दोष को टालने का पुरुषार्थ खतम हो जाता है और श्रद्धा में पराधीनता आ जाने से वह वीतरागता की बाधक हो जाने के कारण,

वीतरागता की घातक सिद्ध होती है जो कि शास्त्र का तात्पर्य नहीं हो सकता । अतः शास्त्रों का यथार्थ भाव समझने के लिये उपर्युक्त निश्चय-व्यवहार की मास्टर कुञ्जी का प्रयोग करने में कहीं भी शास्त्राभ्यासी को भूल नहीं पड़ेगी । अन्यथा अपनी पूर्व मान्यता का पोषण करता रहेगा ।

मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, कथन पद्धति दो प्रकार है

निश्चय व्यवहार के सम्बन्ध में एक मिथ्या मान्यता और चलती है कि 'निश्चय मोक्षमार्ग एवं व्यवहार मोक्षमार्ग, इस प्रकार मोक्षमार्ग दो हैं, अतः दोनों का सेवन आवश्यक है ।' इसका भी निराकरण होना आवश्यक समझकर यहां संकेत करते हैं । इस संबंध में मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २४८ में कहा है कि "सो मोक्ष-मार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है । जहां सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग-निरूपित किया जाय सो निश्चय मोक्षमार्ग है और जहां जो मोक्षमार्ग तो है नहीं परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाय सो व्यवहार मोक्षमार्ग है क्योंकि निश्चय व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है । 'सच्चा निरूपण सो निश्चय' 'उपचार निरूपण सो व्यवहार' इसलिये निरूपण–अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना [किन्तु] एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है, इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है तथा निश्चय-व्यवहार दोनों को उपादेय मानता है, वह भी भ्रम है क्योंकि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरोध सहित है ।"

श्रद्धान निश्चय का, प्रवृत्ति व्यवहार की करना मानना, मिथ्या कैसे है ?

पृष्ठ नं. २४६ में कहते हैं कि "तू ऐसा मानता है कि–सिद्ध समान शुद्ध आत्मा का अनुभवन सो निश्चय और व्रत, शील, संयमादिरूप प्रवृत्ति सो व्यवहार, सो तेरा ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि किसी द्रव्यभाव का नाम निश्चय और किसी का नाम व्यवहार—ऐसा नहीं है। एक ही द्रव्य के भाव को उस स्वरूप ही निरूपण करना सो निश्चयनय है, उपचार से उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप निरूपण करना सो व्यवहार है।" जैसे मिट्टी के घड़े को 'घी का घड़ा' कहना यह व्यवहार है। आगे पत्र नं. २५० में एक प्रश्न उठाया है कि–"श्रद्धान तो निश्चय का रखते हैं और प्रवृत्ति व्यवहार रूप रखते हैं।—इस प्रकार हम दोनों को अंगीकार करते हैं। सो ऐसा भी नहीं बनता क्योंकि निश्चय का निश्चय रूप और व्यवहार का व्यवहार रूप श्रद्धान करना योग्य है। एक ही नय का श्रद्धान होने से एकान्त मिथ्यात्व होता है तथा प्रवृत्ति में नय का प्रयोजन नहीं है। प्रवृत्ति तो द्रव्य की परिणति है, वहां जिस द्रव्य की परिणति हो उसको उसी की प्ररूपित करे सो निश्चयनय और उस ही को अन्य द्रव्य की प्ररूपित करे सो व्यवहार नय—ऐसे अभिप्रायानुसार प्ररूपण से उस प्रवृत्ति में दोनों नय बनते हैं।" इस प्रकार के कथन को सुन कर फिर शिष्य जिज्ञासा प्रगट करता है कि "तो क्या करें? सो कहते हैं—निश्चय नय से जो निरूपण किया हो उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना और व्यवहार नय से जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मान कर उसका

श्रद्धान छोड़ना ।"

निश्चय उपदेश से व्यवहार को छोड़ देंगे, ऐसा मानने में दोष

ऐसा कथन सुन कर शिष्य पत्र नं० २५३ में कहता है कि "तुम व्यवहार को असत्यार्थ-हेय कहते हो तो हम व्रत, शील, संयमादि व्यवहार कार्य किसलिए करें? सबको छोड़ देंगे। उससे कहते हैं कि-व्रत शील संयमादिक का नाम व्यवहार नहीं है, इनको मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है, उसे छोड़ दे और ऐसा श्रद्धान कर कि इनको तो बाह्य सहकारी जान कर उपचार से मोक्षमार्ग कहा है, ये तो परद्रव्याश्रित हैं तथा सच्चा मोक्षमार्ग वीतराग भाव है, वह स्वद्रव्याश्रित है। इस प्रकार व्यवहार को असत्यार्थ हेय जानना। व्रतादिक को छोड़ने से तो व्यवहार का हेयपना होता नहीं है।"

उपसंहार

इस प्रकार टोडरमलजी साहब ने निश्चय-व्यवहार के विषय में बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया है, इस दृष्टिकोण को समझ कर तथा इस ही दृष्टि को लक्ष्य में रख कर शास्त्रों का अध्ययन करे व अर्थ समझे तो यथार्थ वस्तुस्वरूप का ज्ञान हो और मिथ्या श्रद्धा का नाश हो। इसलिये मोक्षार्थी जिज्ञासु जीव को अपने कल्याण करने की दृष्टि से उपर्युक्त पद्धति को समझ कर तत्त्वनिर्णय करना चाहिए। पत्र नं० २६६ में भी कहा है कि "उन प्रकारों को पहिचान कर अपने में ऐसा दोष हो तो उसे दूर करके सम्यक् श्रद्धानी होना, औरों के ही दोष देख-देख कर कषायी नहीं होना क्योंकि अपना भला-बुरा तो अपने परिणामों से है।"

इस प्रकार मोक्षमार्ग प्रकाशक में शास्त्रों के अर्थ करने की जो पद्धति बताई है उसके अनुसार शास्त्रों का अभ्यास करके सभी जीव अपने आत्मा का कल्याण करें, इसी भावना के साथ इस लेख को पूरा करता हूँ।